साधना की सप्राणता : कायोत्सर्ग

रमेश मुनि शास्त्री
[उपाध्याय श्री पुष्करमुनिजी के शिष्य]

जैन साधना बहु आयामी है, उसकी गति वीतरागता की ओर है। भौतिक सुविधाओं अथवा बाह्य समृद्धि का जीवन में कोई मूल्य-महत्त्व यहाँ स्वीकार नहीं किया गया। जो यह मानता है कि मैं सम्पन्न-विपन्न हूँ, साक्षर-निरक्षर हूँ, सुन्दर-असुन्दर हूँ, सुखी-दुःखी हूँ. राजा-रंक हूँ, वह जैन धर्म की दृष्टि में बहिरात्मा है, उसे अपने अस्तित्व की यथार्थता का परिबोध नहीं है; वह मोहासक्त है, मिथ्यात्व में जीता है। वह व्यामोह की महावारुणी पिये हुए है। उसे जब गुरु-प्रसाद से अपने अस्तित्व का अपने जीवन के मूल्य का परिज्ञान होता है और संसार की असारता का दर्शन खुली आँखों से करता है तो वह इन सभी से विरक्त होकर अन्तर्मुख हो जाता है। तब उसे समूचा बाहरी वैभव छलावा लगने लगता है, बाह्य सौन्दर्य में उसे विरूपता दिखाई देने लगती है। वह सर्व ग्रन्थियों को खोलकर उन्मुक्त हो जाता है। तब वह निर्ग्रन्थ कहलाता है। भेदविज्ञान उस में जाग उठता है और वह स्वयं अपने लिए दीपक बन जाता है। वह अपने में से कर्त्तृत्व-भाव को समाप्त कर देता हैं और अपनी आन्तरिक क्षमताओं की अनुद्घाटित परतों को उद्घाटित करता है।

यह ध्रुव सत्य है कि साधना अध्यात्मक्षेत्र की चरम और परम विशुद्ध अवस्था को प्राप्त करने का एक महामन्त्र है। उसका क्षेत्र-विस्तार अनन्त आकाश की भाँति असीम है। अध्यात्म-साधना के अगाध-अपार महासागर में जीवन भर अवगाहन करने पर भी अन्ततः लगता हैं कि अभी तो विराट् के एक बिन्दु का भी संस्पर्श नहीं हुआ है। निष्कर्ष यह है कि जैन साधना की असीमता को ससीम शब्दों के द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता! तथापि उसका प्रमुख उद्देश्य यही है कि अध्यात्म-साधना का अभिनव-अभियान विनाश की ओर नहीं, विकास की ओर है, पतन की ओर नहीं, उत्थान की ओर है, अवरोहण की ओर नहीं, आरोहण की ओर है जो साधना-मानव को अन्तर्दर्शन की सप्राण-प्रेरणा नहीं देती या अन्तर्दर्शन नहीं कराती, वह साधना नहीं, अपितु विराधना है।

"आवश्यक" जैन साधना का प्राणतत्त्व है। वह जीवन विशुद्धि और दोष परिमार्जन का ज्वलन्त-जीवन्त महाभाष्य है। आत्मा को निरखने एवं परखने का एक सर्वथा सफल साधन है। आत्मा में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र रूप अध्यात्मज्योति का विकास आवश्यक क्रिया के बिना कथमपि नहीं हो सकता। अतः जो क्रिया अर्थात् साधना अवश्य करने योग्य है, वही आवश्यक अध्यात्मसाधनारूप है।

आवश्यक परिभाषा

जो अवश्य किया जाए, वह आवश्यक है।[1] श्रमण और श्रावक दोनों ही दिन और रात्रि

१. अवश्यकरणाद् आवश्यकम्।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के अन्त में सामायिक आदि साधना करते हैं। अतः वह साधना आवश्यकपदवाच्य है। प्राकृत भाषा में आधार पद वाचक "आपाश्रय" शब्द 'आवस्सय' कहलाता है। जो सद्गुणों की आधार-भूमि हो, वह आवस्सय-आपाश्रय है। आवश्यक आध्यात्मिक समता, विनम्रता, आत्मनिरीक्षण आदि विविध गुणों का आधार है। इसलिए वह 'आपाश्रय' भी कहलाता है।[२] जो आत्मा को दुर्गुणों से हटाकर गुणों के वश्य-आधीन करे वह आवश्यक है।[३] आ+वश्य=आवश्यक। गुणों से शून्य आत्मा को जो सद्गुणों से सर्वतः वासित करे, वह आवश्यक कहलाता है।[४] आवस्सय का एक संस्कृत रूपान्तर आवासक भी होता है। उसका अर्थ है अनुरंजन करने वाला जो आत्मा का ज्ञान, दर्शन आदि गुणों से अनुरंजन करे, वह आवासक है।[५] इस सन्दर्भ में मेरा विनम्र मन्तव्य है कि जो साधक विक्षेप-विकल्प, वैभव-विलास, विषय-कषाय, ललक-लालसा, ममता-तवता आदि के वश में न हो व उनसे अभिभूत न हो, वह अवश कहलाता है, उस अवश का जो आचरण है, वह आवश्यक है।

आवश्यक के छह प्रकार हैं—

१. सामायिक—समता प्रधान साधना।
२. चतुर्विंशतिस्तव—तीर्थंकर देव के गुणों का उत्कीर्तन।
३. वन्दन—सद्गुरुओं को श्रद्धापूर्वक नमस्कार।
४. प्रतिक्रमण—दोषों की आलोचना।
५. कायोत्सर्ग—शरीर के ममत्व का त्याग।
६. प्रत्याख्यान—आहार आदि की आसक्ति का त्याग।

साधक के लिए सर्वप्रथम समभाव का पालन करना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है। समता को अपनाये बिना सद्गुणों का विकास होना कथमपि संभव नहीं है। जब तक विषम भावों की ज्वालाएँ साधक के अन्तर्मानस में धधकती रहेंगी तब तक वह तीर्थंकर महापुरुषों के सद्गुणों का समुत्कीर्तन नहीं कर सकता। अतएव षडावश्यक में प्रथम आवश्यक सामायिक है। सामायिक का आराधक-साधक ही महापुरुषों के सद्गुणों को सम्माननीय और ग्रहणीय मानकर उन गुणों को अपने जीवन में उतार सकता है। अतः सामायिक के बाद चतुर्विंशतिस्तव रखा गया है। सद्गुणों का महत्त्व हृदयस्थ कर लेने के बाद ही साधक गुणी के सन्मुख सिर झुकाता है, भक्तिविभोर हो कर वन्दन करता है। वन्दन करनेवाले साधक का अन्तर्मन विनम्र होता है, जो विनम्र है, वह सरलमना साधक ही कृतदोषों की आलोचना करता है। अतएव वन्दन के बाद ही प्रतिक्रमण आवश्यक का क्रम आया है। दोषों का स्मरण कर उनसे मुक्ति पाने हेतु तन-मन की स्थिरता अत्यावश्यक है। कायोत्सर्ग आवश्यक-साधना में तन और मन

---

२. आपाश्रयो वा इदं गुणानाम्, प्राकृतशैल्या आवस्सयं।
३. गुणानां वश्यमात्मानं करोति—इति।
४. गुणशून्यमात्मानं गुणैरावासयतीति आवासकम्।
५. गुणैः आवसकं अनुरञ्जकम्
सन्दर्भ १ से ५ तक की आधार-भूमि=विशेषावश्यक भाष्य गाथा—८७७ और ८७८ टीकाकार आचार्य कोटि

धम्मो दीवो
संसार समुद्र में
धर्म ही दीप है

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की स्थिर वृत्ति का अभ्यास किया जाता है, तन और मन की एकाग्रता की जाती है, अतः प्रतिक्रमण के पश्चात् कायोत्सर्ग का क्रम है। जब तन और मन में स्थिरता होती है, तभी प्रत्याख्यान किया जा सकता है। इस प्रकार आवश्यक की साधना के क्रम को सुन्दर रूप से रखा गया है। यह जो क्रम है, वह कार्यकारण भाव की शृङ्खला पर अवस्थित है और पूर्ण रूप से वैज्ञानिक भी है।

आवश्यक की साधना अपने आप में गम्भीर और विस्तृत है। उसके समग्र अंगों का समायोजन एक निबन्ध में करना सरल नहीं है। फिर भी हम यहाँ समासतः प्रयास करेंगे कि कायोत्सर्ग आवश्यक की साधना का समग्र स्वरूप उजागर हो सके और अध्येता प्रस्तुत विषय को स्पष्ट रूप से समझ सके।

कायोत्सर्ग : साधना

अध्यात्मसाधना का सर्वप्रथम चरण है—कायोत्सर्ग। शरीर को स्थिर करना, उसकी चंचलता को समाप्त करना। काया की चंचलता समाप्त हो जाने की स्थिति में कायोत्सर्ग होता है। शरीर स्थिर होता है तब चेतना अपने घर में लौट आती है। जब चेतना अन्तर्जगत् को छोड़कर बहिर्जगत् में जाती है तब चंचलता पैदा होती है। जब शरीर चंचल हुआ, तब इन्द्रियचेतना बाहर जाती है, मन की चेतना बाहर जाती है। जैसे ही शरीर निश्चल प्रशान्त और सुस्थिर हुआ, इन्द्रियचेतना और मानसिक चेतना लौट आती है। प्रतिक्रमण आवश्यक की साधना प्रारम्भ हो जाती है। चेतना का बहिर्जगत् में जाना अतिक्रमण है। और चेतना का अन्तर्जगत् अर्थात् अपने भीतर आ जाना प्रतिक्रमण है। प्रतिक्रमण की क्रिया अर्थात् साधना अपने आप प्रारम्भ होती है। जब हम प्रतिक्रिया की स्थिति में पहुँच जाते हैं तभी हमारे अगले चरण कायोत्सर्ग की साधना के लिए अपने आप आगे बढ़ जाते हैं। जब कायोत्सर्ग सघन रूप में पहुँच जाता है, तब कायगुप्ति सघन बन जाती है, और जब कायगुप्ति सघन होती है तब काया का संयम विशेष रूप से गहरा होता है, काया का सर्वथा रूप से संवर होता है। इस स्थिति में काया बाहर से परमाणुओं का लेना बन्द कर देती है। निष्कर्ष यह है कि परमाणुओं का आना रुक जाता है, बन्द हो जाता है। अन्तर्जगत् का बहिर्जगत् के साथ जो सम्पर्क सूत्र था वह टूट जाता है। उस विशिष्ट भूमिका में कायोत्सर्ग की फलश्रुति भी हमारे सामने मूर्तिमान् हो जायेगी।

कायोत्सर्ग वस्तुतः एक प्रकार का प्रायश्चित्त है। वह पाप को विशोधन करता है। जिस प्रक्रिया से पाप की शुद्धि हो, वह प्रायश्चित्त है। कायोत्सर्ग की साधना में गम्भीर चिन्तन कर उस पाप को नष्ट करने का उपक्रम किया जाता है। संयमप्रधान जीवन को विशेष रूप से परिष्कृत करने के लिये, प्रायश्चित्त करने के लिए, आत्मा को माया, मिथ्यात्व और निदान शल्य से रहित बनाने के लिए पाप कर्मों के निर्घात के लिए कायोत्सर्ग किया जाता है।[६] कायोत्सर्ग का अपर नाम "व्रणचिकित्सा" है।[७] पंच महाव्रत आदि रूप धर्म की आराधना करते समय

---

६. तस्स उत्तरीकरणेणं पायच्छित्तकरणेणं विसोहीकरणेणं विसल्लीकरणेणं पावाणं कम्माणं निग्घायणट्ठाए ठामि काउस्सग्गं। —आवश्यकसूत्र

७. अनुयोगद्वारसूत्र

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रमादवश उसमें यदि कहीं अतिचार लग जाते हैं, भूलें हो जाती हैं, वे संयम रूप शरीर के घाव हैं, जख्म हैं। कायोत्सर्ग उन घावों के लिए मरहम का काम देता है। यह वह रामबाण औषध है, जो अतिचार रूपी घावों को पूर देती है और संयम-शरीर को अक्षत बनाकर संपुष्ट करती है। जो उज्ज्वल-वस्त्र बहुत ही मलिन हो जाता है वह किस से साफ किया जाता है ? उसे किससे धोया जाता है ? पानी से ही धोया जाता है, साबुन लगाकर साफ किया जाता है। एक बार नहीं, प्रत्युत अनेक बार मल-मल कर धोया जाता है। ठीक इसी प्रकार संयमरूपी वस्त्र को जब अतिचारों का मल लग जाता है, भूलों के दाग लग जाते हैं तो अध्यात्म-साधक उन दागों को प्रतिक्रमण रूप जल द्वारा स्वच्छ करता है। फिर भी जो दाग नहीं मिटते, कुछ अशुद्धि का अंश रह जाता है उन्हें कायोत्सर्ग के उष्ण जल से दुबारा धोया जाता है, उन्हें निर्मल बनाया जाता है। निष्कर्ष रूप से यह कहा जा सकता है कि कायोत्सर्ग ऐसा जल है जो हमारे जीवन के मल के हर कण को गलाकर साफ करता है और संयम-जीवन को सम्यक् प्रकार से परम शुद्ध बना देता है। कायोत्सर्ग वास्तव में एक अपूर्व शक्ति है, जिसके द्वारा साधक आत्मा की शुद्धि करता है, गुणों की वृद्धि करता है। साधक निष्पाप हो जाता है। इसी सन्दर्भ में यह ज्ञातव्य तथ्य है कि प्रायश्चित्त के अनेक रूप हैं, जैसा दोष होता है उसी के अनुपात में या उसी प्रकार का प्रायश्चित्त उस दोष की शुद्धि करता है। कायोत्सर्ग उन सब पाप कर्मों का प्रायश्चित्त है, कायोत्सर्ग की साधना के द्वारा वे सब पापकर्म धुल-धुल कर साफ हो जाते हैं। फलतः, आत्मा निर्मल, निष्पाप और विशुद्ध हो जाता है।

भगवान् महावीर की स्पष्ट भाषा में पापकर्म भार के सदृश है। कल्पना के लोक में जरा उड़ान भरिये। मंजिल दूर है, महीना जेष्ठ है। मार्ग भी ऊँचा-नीचा है और मस्तक पर मन भर पत्थर का बोझ गर्दन की हर नस को तोड़ रहा है, यह एक विकट स्थिति है। इस विकट परिस्थिति में भार उतार देने पर उस व्यक्ति को अपार आनन्द का अनुभव होता है। यही दशा पाप-कर्मों के भार की भी है। कायोत्सर्ग के द्वारा इस भार को उतार दिया जाता है, उसे फेंक दिया जाता है। कायोत्सर्ग यह एक ऐसी विश्रामभूमि है, जहाँ पापों का भार हल्का हो जाता है।[८] सब ओर प्रशस्त धर्म-ध्यान का सुनहरा-वातावरण बन जाता है। फलतः आत्मा अति स्वस्थ, निराकुल और आनन्दमय हो जाता है।

कायोत्सर्ग एक यौगिक शब्द है। काय और उत्सर्ग इन दो शब्दों के योग से 'कायोत्सर्ग' शब्द की निष्पत्ति हुई है। तात्पर्य है—प्रतिक्रमण के पश्चात् साधक अमुक समय तक अपने शरीर की ममता का त्याग कर आत्मस्वरूप में लीन होता है। वह उस समय न संसार के पदार्थों में रहता है, न शरीर में रहता है, सब ओर से सिमट कर आत्मस्वरूप में लीन हो जाता है। कायोत्सर्ग अन्तर्मुख होने की एक विशिष्ट साधना है। बहिर्मुखी स्थिति से साधक जब अन्तर्मुखी स्थिति में पहुँच जाता है तो वह राग और द्वेष की गन्दगी से बहुत ऊपर उठ जाता है। अनासक्त और अनाकुल स्थिति का रसास्वादन करता है। शरीर तक की मोह-माया का परित्याग कर देता है। इस स्थिति में कोई भी उपसर्ग आ जाए, विकट संकट आ जाए, वह उसे समभाव से सहन करता है। कायोत्सर्ग में जब साधक अवस्थित होता है तब सर्दी हो,

---

८. काउस्सग्गेणं तीयपडुप्पन्नं पायच्छित्तं विसोहेइ। विसुद्धपायच्छित्ते य जीवे निव्वुयहियए ओहरियभरुव्व भारवहे पसत्थज्झाणोवगए सुहं सुहेणं विहरइ।—उत्तराध्ययन सूत्र २९।१२।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गर्मी हो, मच्छर हों, दंश हो, कैसे भी संकट हों, सब पीड़ाओं और व्यथाओं का समभाव से सहन करना ही काय का त्याग है। कायोत्सर्ग की साधना के द्वारा शरीर की ममता कम की जाती है। कायोत्सर्ग का समुद्देश्य है—शरीर की ममता का त्याग करना। यह जीवन का मोह, यह शरीर की ममता साधना के लिए सब से बड़ी बाधा है। जीवन की आशा का पाश मनुष्य को अपने में उलझाए हुए है। पद-पद पर जीवन का भय भी साधना-मार्ग से पराङ्मुख होने की स्थिति खड़ी कर देता है। यही कारण है कि इन सब बन्धनों से मुक्ति पाने का और सर्व दुःखों का अन्त करने का एकमात्र अमोघ उपाय "कायोत्सर्ग" है।[९] कायोत्सर्ग की साधना का साधक यह चिन्तन करता है कि यह शरीर पृथक् है और मैं पृथक् हूँ। मैं अविनाशी तत्त्व हूँ, यह शरीर क्षणभंगुर है। कोई परवस्तु मेरी नहीं है। शरीरादि परवस्तुएँ जड़ हैं और मैं चेतन हूँ। परवस्तु के साथ आत्मतत्त्व का संयोग और वियोग ही दुःख है।[१०] इन संयोगों के कारण ही आत्मा संसार-कानन में परिभ्रमण करता है। अतः साधक सोचता है कि मैं अकेला हूँ, एक हूँ इस संसार में मेरा कोई नहीं है। और मैं भी किसी का नहीं हूँ।[११] ज्ञानदर्शन मेरा स्वरूप है। माता-पिता, पुत्र ये सभी मुझसे पृथक् हैं। यहाँ तक कि शरीर भी मेरा नहीं है, वह भी आत्मा से भिन्न है।[१२] आत्मा और अनात्मा का भेद-विज्ञान होना, कायोत्सर्ग साधना का संलक्ष्य है। कायोत्सर्ग की साधना में न बोलना है, न हिलना है। साधक एक स्थान पर पत्थर की चट्टान के सदृश निश्चल एवं निःस्पन्द दण्डायमान खड़े रहकर अपलक दृष्टि से शरीर का ममत्व त्याग कर आत्मभाव में रमण करता है, कायोत्सर्ग की स्थिति में साधक को यदि कोई भक्ति-भाव से चन्दन लगाये या कोई द्वेषपूर्वक बसूले से उसके शरीर को छीले, चाहे उसका जीवन रहे या तत्क्षण मृत्यु आ जाए, सब स्थितियों में समचेतना रखता है। वस्तुतः उसी का कायोत्सर्ग शुद्ध होता है।[१३] जो कायोत्सर्ग के समय देव, मानव और तिर्यञ्च संबंधी सभी प्रकार के उपसर्गों को समभावपूर्वक सहन करता है, उसका कायोत्सर्ग ही वस्तुतः शुद्ध होता है।[१४] जिस प्रकार कायोत्सर्ग में निःस्पन्द खड़े हुए अंग-अंग टूटने लगते हैं, दुःखने लगते हैं। प्रत्येक अंग में एक प्रकार की पीड़ा होती है। उसी प्रकार सुविहित साधक कायोत्सर्ग के द्वारा आठों ही कर्म-समूह को पीड़ित करते हैं। उन्हें विनष्ट कर डालते हैं।[१५] कायोत्सर्ग में सब दुःखों और क्लेशों की जड़ ममता का शरीर से सम्बन्ध तोड देने के लिए साधक को यह सुदृढ़

---

९. राजवार्तिक ९।१०।२६

१०. अमितगति द्वात्रिंशिका, श्लोक-२८

११. आचारांग सूत्र १-८-६

१२. सूत्रकृतांग सूत्र १-२-२३

१३. वासीचंदणकप्पो जो मरणे जीविए य समसण्णो।
देहे य अपडिबद्धो काउस्सग्गो हवइ तस्स ॥
—आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा १५४८ आचार्य भद्रबाहु

१४. आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा १५४९, आचार्य भद्रबाहु

१५. काउस्सग्गे जह सुट्ठियस्स, भज्जंति अंगमंगाइं।
इह भिदंति सुविहिया अट्ठविहं कम्मसंघायं ॥
—आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा-१५५१ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रीमती थावर बाई चण्डालिया को संथारा का स्वरूप एवं महत्त्व समझाते हुए महासतीजी। खाचरौद सन् १९८६

श्री अर्चना जी को साज देने का वचन देते हुए श्री थावर बाई

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संकल्प कर लेना चाहिए कि शरीर और है, आत्मा और है ।[16] आचार्य भद्रबाहु ने कायोत्सर्ग के साधकों के लिए जिन तथ्यों का उल्लेख किया है, उनका एकमात्र उद्देश्य साधक में क्षमता का दृढ़ बल पैदा करना है, जिससे साधक दृढता के साथ कायोत्सर्ग में लीन हो जाता है । पर उसका यह अर्थ नहीं है कि साधक मिथ्याग्रह के चक्कर में पड़कर अज्ञानतावश अपना जीवन ही होम दे । कुछ साधकों की मन:स्थिति दुर्बल भी होती है। भगवान् महावीर ने उनके लिए कुछ आगारों की ओर संकेत किया है । जैसे—खांसी, छींक, डकार, मूर्च्छा आदि विविध शारीरिक व्याधियों का भी आगार रक्खा जाता है । क्योंकि शरीर शरीर है और वह व्याधि का मन्दिर है। कायोत्सर्ग की साधना में समाधि की अभिवृद्धि हो, वह कायोत्सर्ग ही लाभप्रद है, हितावह है । किन्तु जिस कार्य को करने से असमाधि की वृद्धि होती है, आर्तध्यान और रौद्रध्यान में परिणति होती है वह कायोत्सर्ग के नाम पर किया गया कायक्लेश मात्र है ।

कायोत्सर्ग का अभिप्राय केवल इतना ही नहीं है कि शारीरिक चंचलता का निरोध कर वृक्ष के समान, पर्वत के समान या सूखे काष्ठ के समान साधक निश्चल और निस्पन्द स्थिति में खड़ा हो जाए । शरीर से सम्बन्धित निष्पन्दता तो एकेन्द्रिय आदि जीवों में भी होती है । पर्वत पर कितना भी प्रहार करो, वह कब चंचल होता है ? वह किसी के प्रति भी रोष-आक्रोश नहीं करता है । उसमें जो स्थैर्य है, वह अविकासशील-विवेकविकल प्राणी का स्थैर्य है । किन्तु कायोत्सर्ग में होने वाला स्थैर्य विवेकपूर्वक होता है ।

तप के कुल बारह प्रकार हैं । [17]व्युत्सर्ग तप का बारहवां भेद और आभ्यन्तर-तप का छठा प्रकार है । प्रस्तुत तप को तीन प्रकार से स्पष्ट किया गया है—[18]

१. अहंकार और ममकार रूप संकल्पों का त्याग करना ।
२. कायोत्सर्ग आदि करना ।
३. व्युत्सर्जन करना भी व्युत्सर्ग है, इसे त्याग भी कहा गया है ।

शरीर व उसके आहार में प्रवृत्ति को हटाकर ध्येय वस्तु में चित्त की एकाग्रता करना कर्मबन्ध के हेतुभूत बाह्य एवं आभ्यन्तर दोषों का भलीभांति परित्याग करना व्युत्सर्ग है ।[20] व्युत्सर्ग शब्द "वि" और "उत्" उपसर्ग के संयोग से बना है । यहाँ "वि" अर्थ होता है—

---

१६. आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा-१५५२
१७. आवश्यकसूत्र
१८. (क) भगवतीसूत्र-२५।६
(ख) उत्तराध्ययनसूत्र, अध्ययन-३०
(ग) मूलाचार-३४५
(घ) कार्तिकेयानुप्रेक्षा-१०२
(ङ) सर्वार्थसिद्धि-९।१९
(च) चारित्रसार-१३३
१९. सर्वार्थसिद्धि ९।२०, ९।२२, ९।२६
२०. (क) अनगारधर्मामृत ७।९४
(ख) धवला ८।३, ४१।८५

धम्मो दीवो
संसार समुद्र में
धर्म ही दीप है

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विविध। उत् का अर्थ है—उत्कृष्ट। और सर्ग का अर्थ है—त्याग। इन सब के आधार पर व्युत्सर्ग का शब्दार्थ होगा—विविध प्रकार का उत्कृष्ट त्याग। स्त्री-पुरुष आदि के सम्बन्धों को कर्मबन्ध का बाह्य-कारण माना गया है। अहंकार, व ममत्व आदि को कर्म बन्ध का अन्तरंग कारण माना जाता है, जिन्हें हर साधक को त्याग देना चाहिए। अतएव इन बाह्य और आभ्यन्तर दोषों का उत्तम प्रकार व भलीभाँति त्याग करना "व्युत्सर्ग" कहा जायेगा।

व्युत्सर्ग के दो प्रकार हैं[२१]—द्रव्य-कायोत्सर्ग, भाव-कायोत्सर्ग। इन में द्रव्य-कायोत्सर्ग में सर्वप्रथम शरीर का निरोध किया जाता है। शारीरिक चंचलता और ममता का परित्याग किया जाता है। काय चेष्टा का निरुन्धन करना काय-कायोत्सर्ग है और यह द्रव्य-कायोत्सर्ग हो जाने में ही साधना का प्राण नहीं है। साधना का प्राणभूत तत्त्व है—भाव। भाव-कायोत्सर्ग का अभिप्राय है—आर्तध्यान और रौद्रध्यान का त्याग कर धर्म-ध्यान एवं शुक्ल-ध्यान में रमण करना। साधक भावकायोत्सर्ग की उच्च स्थिति में अपने मन में पवित्र विचारों का प्रवाह प्रवाहित करता है। वह आत्मा के मौलिक स्वरूप की ओर गमन करता है। जिससे उस साधक को किसी भी प्रकार की शारीरिक वेदना का अनुभव नहीं होता है। वह देह में रहकर भी देहातीत बन जाता है। निष्कर्ष रूप में यही कहा जा सकता है कि भावकायोत्सर्ग में धर्मध्यान और शुक्लध्यान की महिमा है। यही भावकायोत्सर्ग ध्यानरूप है। द्रव्य कायोत्सर्ग तो भावकायोत्सर्ग के लिए भूमिका मात्र है। इस प्रकार यह सुस्पष्ट है कि द्रव्य के साथ जो भाव कायोत्सर्ग है, वह सभी प्रकार के दुःखों को विनष्ट करने वाला है।[२२] द्रव्यकायोत्सर्ग भावकायोत्सर्ग की ओर बढ़ने का एक सक्षम साधन है। द्रव्य स्थूल है। स्थूल से सूक्ष्मता की ओर बढ़ा जाता है द्रव्यकायोत्सर्ग में बाहरी वस्तुओं का त्याग किया जाता है इसके चार प्रकार हैं[२३]—

१. शरीर व्युत्सर्ग—शारीरिक क्रियाओं में चपलता का त्याग करना।
२. गण व्युत्सर्ग—विशिष्ट साधना के लिए गण का त्याग करना।
३. उपधि व्युत्सर्ग—वस्त्र पात्र आदि उपकरणों का त्याग करना।
४. भक्तपान व्युत्सर्ग—आहार पानी का त्याग करना।

भाव व्युत्सर्ग ऐसी साधना पद्धति है जिसमें त्याग और विसर्जन की शक्ति का विशेष रूप से विकास होता है। फिर छोड़ने में कोई संकोच नहीं होता। चाहे इन्द्रियों के विषय छोड़ने पड़ें, शरीर को छोड़ना पड़े, परिवार, धन, वैभव को छोड़ना पड़े उसमें छोड़ने की इतनी अधिक क्षमता बढ जाती है कि वह साधक जब चाहे तब उसे छोड़ सकता है। इस व्युत्सर्ग

---

२१. (क) भगवती सूत्र-२५।७।१४९
(ख) औपपातिक सूत्र-२०
(ग) सो पुण काउस्सग्गो दव्वतो भावतो य भवति।
दव्वतो कायचेट्ठानिरोहो भावतो काउस्सग्गो झाणं॥
—आवश्यकचूर्णि, आचार्य जिनदास गणी महत्तर

२२. काउस्सग्गं तओ कुज्जा सव्वदुक्खविमोक्खणं —उत्तराध्ययन सूत्र २६।४२॥

२३. भगवती सूत्र २५।७।१५०।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चेतना का सुफल यह होता है कि इसके जागने पर साधक को स्पष्ट रीत्या अनुभव हो जाता है कि मैं चैतन्यमय हूँ। यही मेरा ध्रुव, शाश्वत अस्तित्व है। चैतन्य के अतिरिक्त जितना भी जुड़ा हुआ है, वह सब विजातीय तत्त्व है। उनमें से कोई रहे या नहीं भी रहे इससे मुझे क्या ? सबको एक न एक दिन छोड़ना ही है। निष्कर्ष यह है कि भावव्युत्सर्ग चेतना से त्याग व वैराग्य की शक्ति प्रबल होती है। इसके तीन प्रकार हैं—[२४]

१. **कषायव्युत्सर्ग**—चेतना के अथाह महासागर में कषाय के कारण उत्ताल तरंगें उठती रहती हैं, जिससे चैतन्योपयोग में विक्षोभ उत्पन्न होता रहता है जो जीव के शुद्धोपयोग में मलिनता उत्पन्न करता है, वह कषाय है। कषाय शब्द कषैले रस का द्योतक है। कषाय-रसप्रधान भोजन किया जाए तो अन्न रुचि न्यून हो जाती है। वैसे ही कषाय के कारण जीव में मोक्षाभिलाषा न्यून हो जाती है। कषाय मन की मादकता है। जब कषाय रूपी रावण सद्बुद्धि रूपी सीता का अपहरण करता है तब विवेक रूपी राम सद्बुद्धि रूपी सीता को मुक्त कराने के लिये कषाय रूपी रावण पर आक्रमण कर उसे विनष्ट कर देता है। कषाय व्युत्सर्ग में क्रोध, मान, माया और लोभ इन चारों प्रकार के कषायों का परिहार किया जाता है।

२. **संसारव्युत्सर्ग**—इसमें संसार का परित्याग किया जाता है। वह चार प्रकार का है[२५]—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव। द्रव्यसंसार चार गति रूप है। चार गति के नाम ये हैं—नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव। क्षेत्रसंसार अधः, उर्ध्व, और मध्य रूप है। कालसंसार एक समय से लेकर पुद्गल परावर्तन काल तक है। भाव संसार जीव के विषयासक्ति रूप भाव है, जो संसार-कानन में परिभ्रमण का मूल और मुख्य कारण है। द्रव्य, क्षेत्र, काल संसार का त्याग नहीं किया जा सकता। केवल भावसंसार का त्याग किया जाता है। जो इन्द्रिय के विषय हैं, वे ही वस्तुतः संसार है।[२६] और उनमें आसक्त हुआ जीव संसार में भ्रमण करता है। भावसंसार ही वास्तविक संसार है। जहाँ कामनाओं का हृदय में वास है, वहीं संसार है। उन्हीं कामनाओं के कारण चतुर्विध गति रूप में संसार में जीव भ्रमण करता है। उस भावसंसार का त्याग करना ही संसार-व्युत्सर्ग है।

३. **कर्मव्युत्सर्ग**—कर्म के मुख्य दो भेद हैं—द्रव्यकर्म और भावकर्म। कर्म और प्रवृत्ति के कार्य-कारण भाव को लक्ष्य में लेकर पुद्गल-परमाणुओं के पिण्ड रूप कर्म को द्रव्य कर्म कहा जाता है और राग-द्वेष रूप प्रवृत्तियों को भाव कर्म कहा है। द्रव्यकर्म की मूल प्रकृति आठ हैं, उनके नाम ये हैं[२७]—

---

२४. भगवती सूत्र २५।७।१५१॥

२५. चउव्विहे संसारे पण्णत्ते तंजहा—दव्वसंसारे, खेत्तसंसारे, कालसंसारे, भावसंसारे।
स्थानांगसूत्र, स्थान-४, सूत्र २८५।

२६. जे गुणे से आवट्टे। —आचारांगसूत्र १।१।५

२७. (क) नाणस्सावरणिज्जं दंसणावरणं तहा।
वेयणिज्जं तहा मोहं आउकम्मं तहेव य॥
नामकम्मं च गोयं च, अन्तरायं तहेव य।
एवमेयाइं कम्माइं अट्ठेव उ समासओ॥ —उत्तराध्ययन सूत्र अ. ३३।२-३

धम्मो दीवो
संसार समुद्र में
धर्म ही दीप है

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१. ज्ञानावरणीय	२. दर्शनावरणीय
३. वेदनीय	४. मोहनीय
५. आयु	६. नाम
७. गोत्र	८. अन्तराय

उक्त अष्ट प्रकार के कर्मों एवं कर्मबन्ध के कारणों को नष्ट करने के लिए जो कायोत्सर्ग किया जाता है वह कर्मव्युत्सर्ग है।[२८]

कायोत्सर्ग के जो विभिन्न प्रकार बताये गये हैं, वे शारीरिक दृष्टि और विचार की दृष्टि से हैं। पर प्रयोजन की अपेक्षा से कायोत्सर्ग दो रूप में किया जाता है। एक है—चेष्टा-कायोत्सर्ग और दूसरा है—अभिभव-कायोत्सर्ग।[२९]

इन दोनों में जो चेष्टाकायोत्सर्ग है वह दोषशुद्धि के लिए किया जाता है। जब श्रमण शौच या भिक्षा आदि के लिए बाहर जाता है अथवा निद्रा आदि में जो प्रवृत्ति होती है, उसमें दोष लगने पर उसकी विशुद्धि के लिए किया जाता है। यह कायोत्सर्ग परिमित काल के लिए प्रायश्चितस्वरूप होता है। दूसरा अभिभवकायोत्सर्ग दो स्थितियों में किया जाता है—प्रथम दीर्घकाल तक आत्म-चिन्तन के लिए साधक आत्मशुद्धि हेतु मन को एकाग्र करने का प्रयास करता है। और दूसरा संकट आने पर, जैसे राजा अग्निकाण्ड, दुर्भिक्ष, विप्लव आदि। यह कायोत्सर्ग यावज्जीवन के लिए होता है। उपसर्ग-विशेष के आने पर जीवनपर्यन्त के लिए जो सागारी संथारा रूप कायोत्सर्ग किया जाता है उसमें यह भावना भी रहती है कि यदि मैं इस उपसर्ग के कारण मर जाऊँ तो मेरा यह कायोत्सर्ग यावज्जीवन के लिए है। यदि मैं जीवित बच जाऊँ तो उपसर्ग रहने तक कायोत्सर्ग है। अभिभव कायोत्सर्ग का दूसरा रूप संस्तारक अर्थात् संथारे का है। यावज्जीवन संथारा करते समय जो काय का उत्सर्ग किया जाता है वह भवचरिम अर्थात् आमरण अनशन के रूप में होता है। प्रथम चेष्टा कायोत्सर्ग, उस अन्तिम अभिभव कायोत्सर्ग के लिए अभ्यास-स्वरूप होता है। नित्य प्रति कायोत्सर्ग-साधना का अभ्यास करते रहने से एक दिन वह आत्मबल उपलब्ध हो सकता है, जिसके फलस्वरूप अध्यात्मसाधक एक दिन मृत्यु के सन्मुख निर्भीक खड़ा हो जाता है। वह मर कर भी मरण पर विजय प्राप्त कर लेता है।

---

२७. (ख) स्थानांगसूत्र ८।३।५९६
(ग) भगवतीसूत्र शतक-६, उद्देशा-९
(घ) प्रज्ञापनासूत्र २३।१
(ङ) प्रथमकर्मग्रन्थ, गाथा-३

२८. (क) स्थानांगसूत्र-४१८
(ख) समवायांगसूत्र, समवाय-५
(ग) तत्त्वार्थसूत्र, अध्ययन-८।१

२९. जो उसग्गो दुविहो चिट्ठए अभिभवे य नायव्वो।
भिक्खायरियाइ पढमो उवसग्गभिजुंजणे बिइओ ।।
—आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा-१४५२ ।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अभिभव कायोत्सर्ग का काल जघन्य अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट एक वर्ष का है। बाहुबली ने एक वर्ष तक कायोत्सर्ग किया था।[30] दोषविशुद्धि के लिए जो कायोत्सर्ग किया जाता है उस कायोत्सर्ग के पाँच प्रकार हैं, वे ये हैं—१. दैवसिक कायोत्सर्ग २. रात्रिक कायोत्सर्ग ३. पाक्षिक कायोत्सर्ग। ४. चातुर्मासिक कायोत्सर्ग। ५. सांवत्सरिक कायोत्सर्ग।

षडावश्यक में जो कायोत्सर्ग का उल्लेख है उसमें चतुर्विंशतिस्तव अर्थात् चौबीस तीर्थंकरों का ध्यान किया जाता है। चतुर्विंशतिस्तव के सात श्लोक और अट्ठाईस चरण हैं।[31] एक उच्छ्वास में एक चरण का ध्यान किया जाता है। इस प्रकार एक चतुर्विंशतिस्तव का ध्यान पच्चीस उच्छ्वासों में सम्पन्न हो जाता है। जैसे प्रथम सांस लेते समय मन में "लोगस्स उज्जोयगरे" कहा जायेगा। और सांस को छोड़ते समय "धम्मतित्थयरे जिणे।" द्वितीय सांस लेते समय "अरिहंते कित्तइस्सं" और सांस छोड़ते समय "चउवीसं पि केवली" कहा जायेगा। इस प्रकार चतुर्विंशतिस्तव का कायोत्सर्ग होता है।

कायोत्सर्ग का ध्येय परिमाण और कालमान इस प्रकार है—

चतुर्विंशतिस्तव	श्लोक	चरण	उच्छ्वास
१. दैवसिक—४	२५	१००	१००
२. रायिक—२	१२½	५०	५०
३. पाक्षिक—१२	७५	३००	३००
४. चातुर्मासिक—१६	१००	४००	४००
५. सांवत्सरिक—२०	१२५	५००	५००

दिगम्बर परम्परा के प्रभावक आचार्य श्री अमितगति ने विधान किया है[33] कि दैवसिक कायोत्सर्ग में एक सौ आठ और रात्रि के कायोत्सर्ग में चउपन उच्छ्वासों का ध्यान करना चाहिए। सत्तावीस उच्छ्वासों में नमस्कार मन्त्र की नौ आवृत्तियाँ हो जाती हैं। क्योंकि तीन उच्छ्वासों में एक नमस्कार महामन्त्र पर ध्यान किया जाता है। "नमो अरिहन्ताणं" "नमो सिद्धाणं" एक उच्छ्वास में "नमो आयरियाणं" "नमो उवज्झायाणं" दूसरे उच्छ्वास में "नमो लोए सव्वसाहूणं" का तीसरे उच्छ्वास में ध्यान किया जाता है।

---

३०. (क) तत्र चेष्टाकायोत्सर्गोऽष्टपंचविंशति सप्तविंशति त्रिशति अष्टोत्तर सहस्रोच्छ्वासान् यावद् भवति। अभिभव-कायोत्सर्गस्तु—मुहूर्तादारभ्य संवत्सरं यावद् बाहुबलिरिव भवति। —योगशास्त्र ३, पत्र २५०

(ख) मूलाराधना २, ११६ विजयोदया वृत्ति।

३१. योगशास्त्र—३ ॥

३२. मूलाराधना—विजयोदया वृत्ति १, ११६

३३. अष्टोत्तरशतोच्छ्वासः कायोत्सर्गः प्रतिक्रमे।
सान्ध्ये प्राभातिके वार्धमन्यस्तत् सप्तविंशतिः।
सप्तविंशतिरुच्छ्वासाः संसारोन्मूलनक्षमाः।
सन्ति नमस्कारे नवधा चिन्तिते सति ॥
—अमितगति श्रावकाचार ८, श्लोक-६८, ६९

धम्मो दीवो
संसार समुद्र में
धर्म ही दीप है

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचार्य अपराजित का अभिमत है कि पंच महाव्रत सम्बन्धी अतिक्रमण होने पर एक सौ आठ उच्छ्वासों का कायोत्सर्ग करना चाहिए। कायोत्सर्ग करते समय मानसिक चंचलता से अथवा उच्छ्वासों की संख्या की परिगणना में संदेह उत्पन्न हो जाय तो आठ श्वासोच्छ्वासों का और अधिक कायोत्सर्ग करना चाहिए।[३४]

कायोत्सर्ग की साधना में मानसिक एकाग्रता सर्वप्रथम आवश्यक है। कायोत्सर्ग अनेक प्रयोजनों से किया जाता है। इसका मुख्य और मूल प्रयोजन है—क्रोध, मान, माया और लोभ का उपशमन करना।[३५] विघ्न, बाधा, अमंगल आदि के परिहार के लिए भी कायोत्सर्ग का विधान है। किसी शुभ कार्य के प्रारम्भ में यदि किसी भी प्रकार का उपसर्ग, अपशकुन हो जाए तो आठ श्वास-प्रश्वास का कायोत्सर्ग करना चाहिए और उस कायोत्सर्ग में महामंत्र "नमस्कार" का चिन्तन करना अपेक्षित है।

दूसरी बार पुनः बाधा उपस्थित हो जाय तो सोलह श्वास-प्रश्वास का कायोत्सर्ग कर दो बार नमस्कार महामन्त्र का चिन्तन करना चाहिए। यदि तीसरी बार भी विघ्न-बाधा उपस्थित हो जाय तो बत्तीस श्वास-प्रश्वास का कायोत्सर्ग कर चार बार नमस्कार महामन्त्र का चिन्तन करना चाहिए। यदि चौथी बार भी बाधा उपस्थित हो तो विघ्न अवश्य होगा ऐसी संभावना समझकर विहार यात्रा को और शुभ कार्य को प्रारम्भ नहीं करना चाहिए।

हमारे शरीर में जितनी भी शक्तियाँ विद्यमान हैं उन समस्त शक्तियों से भलीभाँति परिचित होने का सबसे सुगम मार्ग "कायोत्सर्ग" है। कायोत्सर्ग एक ऐसी साधनापद्धति है जिसमें श्वास शनैः शनैः सूक्ष्म होता चला जाता है। श्वास, प्रश्वास की सूक्ष्मता से कायोत्सर्ग घटित हो जाता है। उसके साथ ही साधक को यह स्पष्टतः ज्ञात होता है कि मैं अन्य हूँ और यह शरीर मेरे से भिन्न है; और ऐसा क्षण आता है जब साधक तन एवं मन इन दोनों से ऊपर उठकर आत्मरूप हो जाता है।

श्वास की कुछ स्थितियाँ हैं, जिनका बोध होना अतिआवश्यक है—वे स्थितियाँ इस प्रकार हैं।

१. सहज श्वास
२. शान्त श्वास
३. उखड़ी श्वास
४. विक्षिप्त श्वास
५. तेज श्वास।

अध्यात्म-साधक सर्वप्रथम श्वास को गहरी और लम्बी करता है। उसके बाद लयबद्ध श्वास का अभ्यास करता है। फिर सूक्ष्म शान्त एवं जमी हुई श्वास का अभ्यास करता है। चतुर्थ अभ्यास में वह साधक अपने आप को सहज-कुम्भक स्थिति में पाता है। इसी सन्दर्भ में यह भी ज्ञातव्य है कि तेज श्वास लेना, साधक के लिए उपयोगी नहीं है। कारण यह है कि

---

३४. मूलाराधना २, ११६ विजयोदया वृत्ति
३५. कायोत्सर्गशतक गाथा-८
३९. व्यवहारभाष्य, पीठिका, गाथा—११८, ११९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तेज श्वास लेने से तन और मन में अत्यन्त श्रम का अनुभव होता है, जिससे वह शिथिल हो जाता है तथा चेतना के प्रति जागरूकता की स्थिति घटित नहीं हो सकती। उस स्थिति में थकान व मूर्च्छा के कारण आने वाली जो तन्द्रारूपी शून्यता है, उससे अपने आप को बचाना कठिन हो जाता है। श्वास-प्रश्वास को उखाड़ने की अपेक्षा उसे लम्बा करने का अभ्यास करना चाहिए। धीमी अर्थात् मन्द श्वास धैर्य की निशानी है। श्वास जितना सूक्ष्म होगा, शरीर में उतनी ही क्रियाशीलता न्यून होगी। श्वास की निष्क्रियता मौन एवं शान्ति है। इसमें ऊर्जा संचित होती है और वह संचित ऊर्जा मन को देहाविष्ट बनाती है। जब श्वास शिथिल हो जाता है, तब शरीर भी निष्क्रिय बन जाता है। मन निर्विचार हो जाता है। जिस से कषाय की ग्रन्थियाँ भी आहत होने लगती हैं। क्योंकि उस साधक में तीव्र रूप से वैराग्य, पर-द्रव्यात्मभिन्नता और और अन्तःप्रवेश की क्षमता उत्पन्न होती है।

कायोत्सर्ग की साधना में श्वास-क्रिया मन्द हो जाती है, जिसके कारण जागरूकता बनी रहती है। शरीर की स्थिरता सधती है, चेतना निर्मल होती जाती है और इस स्थूल शरीर की सीमा का अतिक्रमण कर सूक्ष्म शरीर की घटनाओं का परिबोध होने लगता है। और स्थूल शरीर के प्रति हमारी पहुँच या पकड़ कम हो जाती है, जिससे हम दुःख के उपादान तत्त्व तक पहुँच जाते हैं। यह एक अनुभूत तथ्य है कि यह शरीर दुःख को प्रकट करने का हेतु है, किन्तु उसे प्रकट करने का उपादान कारण नहीं है। उपादान, मूल कारण है—कर्मशरीर। कायोत्सर्ग की स्थिति में हमें दुःख के उपादान का संदर्शन होता है, तब समूचा व्यक्तित्व भिन्न प्रकार का होता है। एक सत्य स्थिर होता है—चेतना के साथ जो कर्मशरीर है, उसे क्षीण करना है फलतः कर्म-परमाणुओं का भीतर आना बन्द हो जाता है। चेतना का बाहर से सम्पर्क टूटता है। अपनी समूची शक्ति का नियोजन भीतर होता है। मन भी निर्विचार हो जाता है। स्थूल शरीर से सम्बन्ध-विच्छेद होकर सूक्ष्म शरीर—तैजस एवं कार्मण शरीर से सम्बन्ध स्थापित किया जाता है। तैजस् शरीर से दीप्ति प्राप्त होती है। कार्मण शरीर के साथ सम्बन्ध संस्थापित कर भेद-विज्ञान का अभ्यास किया जाता है। इस तरह शरीर और आत्मा के ऐक्य की जो भ्रान्ति है वह मिट जाती है।

द्रव्य और भाव के भेद को समझने के लिए कायोत्सर्ग के चार प्रकार प्रतिपादित हैं।[36]

१. उत्थित-उत्थित
२. उत्थित-उपविष्ट
३. उपविष्ट-उत्थित
४. उपविष्ट उपविष्ट

१. उत्थित-उत्थित

मुमुक्षु साधक कायोत्सर्ग मुद्रा में जब खड़ा-खड़ा ध्यान करता है, तब उसके अन्तर्मन की चेतना भी खड़ी हो जाती है। उसकी काया तो उन्नत रहती ही है, उसका ध्यान भी उन्नत होता है। वह आर्तध्यान और रौद्रध्यान का परित्याग कर धर्मध्यान व शुक्लध्यान में रमण करता है। यह कायोत्सर्ग सर्वोत्कृष्ट होता है। इसमें प्रसुप्त आत्मा जाग्रत होकर कर्मों

३६. आचार्य अमितगति, श्रावकाचार ८, ५७-६१।

धम्मो दीवो
संसार समुद्र में
धर्म ही दीप है

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से युद्ध करने के लिए तन कर खड़ी हो जाती है। वह द्रव्य और भाव दोनों दृष्टियों से उत्थित है। अतः वह प्रथम श्रेणी का साधक है।

२. उत्थित-उपविष्ट

कुछ साधक इस श्रेणी के भी होते हैं, जो आँख मूंदकर खड़े हो जाते हैं। वे शारीरिक दृष्टि से खड़े हुए दिखाई देते हैं किन्तु मानसिक दृष्टि से उनमें किञ्चित् मात्र भी जागृति नहीं होती है। उनका मन आर्तध्यान और रौद्रध्यान में रहता है। वह द्रव्य से खड़े रहते हैं, पर भाव से गिर जाते हैं। ध्यान की अपकृष्ट भावधारा में अवगाहन करते हैं। वह तन से उत्थित है, किन्तु मन और आत्मा से उपविष्ट है।

३. उपविष्ट-उत्थित

कभी-कभी शारीरिक अस्वस्थता या वृद्धावस्था आदि के कारण साधक कायोत्सर्ग की साधना के लिए खड़ा नहीं हो पाता है। वह शारीरिक सुविधा की दृष्टि से पद्मासन, सुखासन आदि से बैठ कर ही धर्मध्यान और शुक्लध्यान की परिणति में रत रहता है। वह साधक तन की दृष्टि से बैठा हुआ है किन्तु उसके अन्तर्मानस में शुभ-शुद्ध भावधारा तीव्रता से प्रवाहित हो रही है, बैठने पर भी वह मन से उत्थित है।

४. उपविष्ट-उपविष्ट

साधक शारीरिक दृष्टि से स्वस्थ और समर्थ होने पर भी आलस्य के कारण खड़ा नहीं होता है। बैठे-बैठे ही कायोत्सर्ग करता है और आर्तध्यान और रौद्रध्यान में लीन रहता है। धर्मध्यान की परिणति में रत न होकर सांसारिक विषय भोगों की कल्पनाओं में उलझा रहता है। राग-द्वेष में फंसा हुआ है। उसका तन और मन दोनों बैठे हुए हैं। उसमें भाव की दृष्टि से कोई जागृति नहीं है। यह कायोत्सर्ग नहीं, मात्र कायोत्सर्ग का दम्भ है।

उपर्युक्त कायोत्सर्ग-चतुष्टय में साधक जीवन के लिए प्रथम और तृतीय कायोत्सर्ग ही उपादेय हैं। ये दोनों ही वस्तुतः कायोत्सर्ग हैं। इन द्वारा ही जन्म-मृत्यु का बन्धन कटता है और आत्मा अपने ज्योतिर्मय स्वरूप में पहुँच कर वास्तविक आध्यात्मिक आनन्द की अनुभूति प्राप्त करता है। परम-पद मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

उत्थित-उपविष्ट के स्थान पर "उत्थित-निविष्ट" का प्रयोग मिलता है।[३८] निर्युक्ति साहित्य में तो और ही प्रकार के नाम निर्दिष्ट किये गये हैं,[३९] फिर भी इन शब्दों का अर्थगत अभिप्राय एक जैसा ही है।

यह कायोत्सर्ग मन, वचन और काय इन तीनों ही योगों के द्वारा किया जाना चाहिये। तात्पर्य यह है कि घुटनों तक दोनों हाथों को लटका कर, दोनों पाँवों के बीच में चार अंगुल का अन्तर रखते हुए खड़ा होना काया के द्वारा किया गया "कायिक कायोत्सर्ग" होता है। उसके पश्चात् ध्यान में लीन होने से पहले, वाणी से यह उच्चारणपूर्वक कहना "मैं शरीर का

---

३८. मूलाचार—६७३-६७७

३९. आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा-१४५९-१४६०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परित्याग करता हूँ, अर्थात् दैहिक ममता का विसर्जन करता हूँ।" यह वाचिक कायोत्सर्ग कहा जायेगा। और मन से शरीर से "ममेदं" बुद्धि की निवृत्ति कर लेना "मानसिक कायोत्सर्ग" होगा।

शारीरिक अवस्थिति और मानसिक चिन्तनधारा की अपेक्षा से कायोत्सर्ग के नौ प्रकार भी हैं।[४०]

शारीरिक स्थिति		मानसिक चिन्तनधारा
१. उत्सृत-उत्सृत	खड़ा	धर्मशुक्ल ध्यान
२. उत्सृत	खड़ा	न धर्मशुक्ल, न आर्त रौद्र किन्तु चिन्तनशून्य दशा
३. उत्सृत निषण्ण	खड़ा	आर्त, रौद्रध्यान
४. निषण्ण उत्सृत	बैठा	धर्म शुक्लध्यान
५. निषण्ण	बैठा	न धर्मशुक्ल ध्यान न आर्त रौद्र किन्तु चिन्तनशून्य दशा
६. निषण्ण-निषण्ण	बैठा	आर्तरौद्रध्यान।
७. निषण्ण-उत्सृत	लेटकर	धर्मशुक्लध्यान
८. निषण्ण	लेटकर	न धर्मशुक्ल, न आर्तरौद्र किन्तु चिन्तनशून्य दशा
९. निषण्ण-निषण्ण	लेटकर	आर्त रौद्र ध्यान

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि कायोत्सर्ग खड़े होकर, बैठकर, लेटकर, इन तीनों अवस्थाओं में किया जा सकता है। खड़ी मुद्रा में कायोत्सर्ग साधना करने की रीति इस प्रकार है—दोनों हाथों को घुटनों की ओर लटका दे। पैरों को समरेखा में रखे। दोनों पंजों में चार अंगुल का अंतर रखे। बैठी मुद्रा में कायोत्सर्ग-साधना करने वाला पद्मासन अथवा सुखासन से बैठ जाये। हाथों को या तो घुटनों पर रखे, बायीं हथेली पर दायीं हथेली रखकर अंक में रखे तथा लेटी हुई मुद्रा में कायोत्सर्ग करने वाला साधक सिर से लेकर पैर तक के अवयवों को सबसे पहले ताने, फिर उन्हें शिथिल कर दे। हाथ और पैर को सटाये हुए न रखे। इन सभी में अंगों का सुस्थिर और शिथिल होना अति आवश्यक है।[४१]

इसी सन्दर्भ में यह भी ज्ञातव्य है कि कायोत्सर्ग करने वाला साधक शरीर से निष्क्रिय होकर खम्भे की तरह खड़ा हो जाय। दोनों बाहुओं को घुटनों की ओर फैला दे। प्रशस्त ध्यान में लीन हो जाय। शरीर को एकदम अकड़ कर न खड़ा रखे और न एकदम झुका करके ही। वह सम-मुद्रा में खड़ा रहे। कायोत्सर्ग में उपसर्ग और परिषह को समभाव से सहन करना चाहिए। इतना अवश्य ही ध्यान रखना चाहिए कि कायोत्सर्ग जिस स्थान पर

४०. आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा-१४५६-१४६०॥ —आचार्य भद्रबाहु
४१. योगशास्त्र ३ पत्र, २५०

धम्मो दीवो संसार समुद्र में धर्म ही दीप है

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किया जाय, वह स्थान एकान्त हो, शान्त हो तथा जीव-जन्तुओं से रहित होना चाहिये। [४२]

श्वेताम्बर और दिगम्बर इन दोनों परम्पराओं के साहित्य के पर्यवेक्षण से यह सूर्य के प्रकाश की तरह सुस्पष्ट है कि प्राचीन काल में श्रमण-साधकों के लिए कायोत्सर्ग का विधान विशेष रूप से रहा है। श्रमण को पुनः पुनः कायोत्सर्ग करना चाहिये। [४३] उसे दिन और रात में कुल अट्ठाइस बार कायोत्सर्ग करना चाहिये। स्वाध्यायकाल में बारह बार, वन्दन-काल में छः बार, प्रतिक्रमण काल में आठ बार और योग भक्तिकाल में दो बार इस प्रकार कुल अट्ठाईस बार कायोत्सर्ग करना चाहिए। [४४]

कायोत्सर्ग के अनेक फल हैं, संक्षेप में उनका वर्णन इस प्रकार है—

१. **देहजाड्य शुद्धि**—श्लेष्म आदि के द्वारा शरीर में जड़ता आ जाती है, कायोत्सर्ग की साधना से श्लेष्म आदि दोष विनष्ट हो जाते हैं। इसलिए उनसे उत्पन्न होने वाली जड़ता भी समाप्त हो जाती है।

२. **मतिजाड्य शुद्धि**—कायोत्सर्ग में मानसिक प्रवृत्तियाँ केन्द्रित हो जाती हैं। उससे चित्त एकाग्र होता है, बौद्धिक-जड़ता विनष्ट होकर उसमें तीक्ष्णता आती है।

३. **सुख-दुःख-तितिक्षा**—कायोत्सर्ग से सुख और दुःख सहन करने की अद्भुत क्षमता उत्पन्न होती है।

४. **अनुप्रेक्षा**—कायोत्सर्ग में अवस्थित साधक अनुप्रेक्षा अर्थात् भावना का स्थिरतापूर्वक अभ्यास करता है।

५. **ध्यान**—कायोत्सर्ग में धर्मध्यान और शुक्लध्यान का सहज अभ्यास हो जाता है। [४६]

वास्तविकता यह है कि इसकी साधना से जीवन में निर्ममत्व, निस्पृहता और अनासक्ति की भव्य-भावना लहराने लगती है। शरीर में ममत्व का निरास करना [४७] परिमित काल

---

४२. तत्र शरीरनिस्पृहः स्थाणुरिवोर्ध्वकायः प्रलम्बितभुजः प्रशस्तध्यानपरिणतोऽनुन्नमितानत-कायः परीषहानुपसर्गाश्च सहमानः तिष्ठन्निर्जन्तुके कर्मापायाभिलाषी विविक्ते वेशे।
—मूलाराधना २-११३, विजयोदया पृ २७८-७९ आचार्य अपराजित।

४४. क—उत्तराध्ययन सूत्र अ-२६ गाथा-३९ से ५१ तक
ख—अभिक्खणं काउसग्गकारी। —दशवैकालिक चूलिका २-७

४५. अष्टविंशति संख्यानाः कायोत्सर्गा मता जिनैः।
अहोरात्रगता सर्वे षडावश्यककारिणाम्॥
स्वाध्याये द्वादश प्राज्ञैः वन्दनायां षडीरिताः।
अष्टौ प्रतिक्रमे योग भक्तौ तौ द्वावुदाहृतौ॥
—आचार्य अमितगति श्रावकाचार ८।६६-६७

४६. क—कायोत्सर्ग शतक, गाथा-१३
ख—व्यवहारभाष्यपीठिका गाथा-१२५

४७. देहे ममत्वनिरासः कायोत्सर्गः —भगवती आराधना वि-६।३२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के लिए देह में होने वाली ममत्व बुद्धि का त्याग करना,[४८] शरीर को कर्मजनित, विनश्वर और अचेतन मानते हुए, उसके पोषण आदि के निमित्त कोई कार्य न करना [४९], जिस मुनि का शरीर जल्ल और मल से लिप्त हो, या दुस्सह रोग के हो जाने पर जो उपचार न कराता हो, शरीर के अंग धोने में जो उदासीन हो, भोजन, शय्या आदि की अपेक्षा न करता हो, सज्जन और दुर्जन के प्रति मध्यस्थ हो, शरीर के प्रति ममत्व न रखता हो, सिर्फ आत्मस्वरूप के चिन्तन में लीन रहता हो [५०] उसे कायोत्सर्ग नाम का तप होता है। दैवसिक निश्चित क्रियाओं में यथोक्त काल प्रमाण पर्यन्त, उत्तम क्षमा, आदि रूप जिनसद्‌गुणों की भावना करते हुए ममत्व को छोड़ना कायोत्सर्ग है।[५१] काय सम्बन्धी समस्त क्रियाओं को कायोत्सर्ग कहा जाता है।

काय आदि पर-द्रव्यों में स्थिरभाव को छोड़कर निर्विकल्प रूप से आत्म स्वरूप का ध्यान करना "कायोत्सर्ग" है।[५३] कर्मों के विनाश की अभिलाषा रखने वाला, मुमुक्ष निर्जन, एकान्त, जन्तुओं से रहित स्थान में, ठूंठ की तरह सीधा, हाथों को नीचे की ओर लटकाए हुए खड़ा होकर, परिषह और उपसर्गों को सहता हुआ, शरीर से निस्पृह होकर शरीर को न तो अकड़ा हुआ, न झुकाया हुआ, प्रत्युत एकदम सीधा रखता हुआ, प्रशस्त ध्यान में स्थिर होता है,[५४] यही उसका कायोत्सर्ग है।

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि कायोत्सर्ग की प्रक्रिया वस्तुतः कष्टप्रद नहीं है। इस प्रक्रिया से शरीर को पूर्ण रूप से विश्रान्ति मिलती है, अन्तर्मन में प्रसन्नता का संचार होता है। ऊर्जा का संरक्षण होता है। कुछ दिनों के बाद संचित ऊर्जा मन को एक-दिशागामी बनाकर उसे ध्येय में लगाती है। मैं विनम्र भाषा में इतना ही कहना चाहता हूँ कि मोक्षमार्ग में स्थित साधक को अहंकार और ममकार को छोड़ने के लिए, दुःखों को विनष्ट करने के लिए कायोत्सर्ग-साधना अवश्य करनी चाहिए। कायोत्सर्ग करने से जिस तरह से शरीर के अंगों व उपांगों की सन्धियों का भेदन होता है, वैसे ही कर्म रूपी मल व धूलि भी आत्मप्रदेशों से पृथक् हो जाती है। इस पवित्र साधना में न तो दुःख-कष्ट सहन करने का विधान है और

---

४८. परिमितकालविषया शरीरे ममत्वनिवृत्तिः कायोत्सर्गः। —राजवार्तिक ६।२४।११

४९. ज्ञात्वा योऽचेतनं कायं नश्वरं कर्मनिर्मितम्।
न तस्य वर्तते कार्ये कायोत्सर्गः करोति सः॥ —योगासार ५।५२॥

५०. जल्लमललित्तगत्तो दुस्सहवाहीसु णिप्पडीयारो।
मुहधोवणादिविरओ भोजणसेज्जादि णिरवेक्खो॥
ससरूवचिंतणरओ दुज्जण-सुयणाण जो हु मज्झत्थो।
देहे वि णिम्ममत्तो काओसग्गो तओ तस्स॥ —कार्तिकेयानुप्रेक्षा ४६७-४६८॥

५१. देवस्सियणियमादिसु जहुत्तमाणेण उत्तकालम्हि।
जिण गुणाचिन्तणजुत्तो काओसग्गो तणुविसग्गो॥ —मूलाचार २८।

५२. नियमसार, तात्पर्याख्यावृत्ति ७०।

५३. कायाइय परदव्वे थिरभावं परिहरित्तु अप्पाणं।
तस्स हवे तणुसग्गो जो झायइ णिव्विअप्पेण॥ —नियमसार १२१

५४. मूलाराधना २।११६। विजयोदया पृष्ठ २७८॥ —आचार्य अपराजित।

धम्मो दीवो
संसार समुद्र में
धर्म ही दीप है

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

न दुःख कष्टों से पलायन की परम्परा प्रवर्तित की गई है। प्रत्युत उग्र से उग्र कष्ट के सामने अडिग अविचल बन कर खड़े रहने को एक ऐसी एकाग्रता, सहिष्णुता, की विशद रूप से विश्लेषणा की गई है, जिसमें कष्ट दुःख स्वयं ही हार-थक कर अध्यात्म-साधक का पिण्ड छोड़कर भाग जाएँ। वास्तविकता यह है कि कायोत्सर्ग की साधना से मोक्षार्थी साधक के जीवन में स्वर्ण-सुगन्ध जैसा संयोग जुड़ जाता है।

□□

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org